International Journal of Applied Research 2015; 1(10): 164-166

International Journal of Applied Research

ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 5.2
IJAR 2015; 1(10): 164-166
www.allresearchjournal.com
Received: 20-07-2015
Accepted: 21-08-2015

पल्लवी रिनाहिते
शोध छात्रा, हिन्दी विभाग
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय
बिलासपुर, छत्तीसगढ़

मध्यकालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में संत एवं भक्त कवियों की भूमिका

पल्लवी रिनाहिते

भारतीय समाज में पुनरुत्थानवाद कोई नयी घटना नहीं है। समय–समय पर अलग–अलग ऐतिहासिक भूमिकाओं के साथ पुनरुत्थानवाद के दौर हमें देखने को मिलते हैं। भारतीय सामाजिक इतिहास में नयी चेतना उदय केवल स्वाधीनता संग्राम और नवजागरण काल की घटना नहीं है अपितु वेदों, उपनिषदों के काल से लेकर बौद्ध, जैन धर्मों का उदय, लोकायत धारा, भक्ति आंदोलन और समकालीन लोकतांत्रिक आन्दोलन तक नयी चेतना का उन्मेष कई बार हुआ। डॉ. शिवकुमार मिश्र के अनुसार ″संत साहित्य, वेद–उपनिषदों तथा बौद्ध–जैन धर्म के बाद भारतीय सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना का तृतीय क्रांतिकारी उन्मेष था।″[1] जो धर्म एवं मानवतावादी चेतना के प्रखर अभिव्यक्ति के रुप में सामने आया।

भारत में भक्ति का आरम्भ कब हुआ इसके बीज कहाँ–कहाँ विद्यमान थे इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं किन्तु इससे सम्बन्धित एक दोहा प्रचलित है।

> **″भक्ति द्राविड़ी उपजी, लाए रामानंद,**
> **परगट कियो कबीर ने, सात द्वीप, नौ, खण्ड″[2]**

इसी भाव से मिलता जुलता एक संस्कृत श्लोक है, जो भागवत एवं पद्मपुराण दोनों ही ग्रंथों में मिलता है। भागवत में भक्ति स्वयं नारद से कहती है –

> **″उत्पन्न द्राविड़े चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता,**
> **स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णता गता।″[3]**

(अर्थात् मैं द्रविड़ देश में जन्मी, कर्णाटक में विकसित हुई, कुछ समय महाराष्ट्र में रही और गुजरात में पहुँचकर मैं जीर्ण हो गयी।)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भक्ति का सर्वप्रथम उदय दक्षिण भारत में हुआ। 8 वीं शती में 'शंकराचार्य' का अद्वैतवाद ठीक उसी समय हमारे सामने आया जब समाज में व्यापक धार्मिक जड़ता, अराजकता और मतांद्यता थी। लेकिन अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए भी शंकराचार्य उस वर्णव्यवस्था के कट्टर समर्थक थें जो काफी पहले अपना तात्पर्य खो चुकी थी। शंकराचार्य के अद्वैतवादी दर्शन का विरोध करने वाले श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक 'रामानुजाचार्य' का आगमन 11 वीं शताब्दी में हुआ जिन्होंने भक्ति के क्षेत्र में वर्णात्मक व्यवस्था की दीवारें तोड़ दी आगे चलकर रामानुजाचार्य के ही शिष्य परम्परा के रामानंद ने धार्मिक एकाधिकार एवं छुआछूत का खुलकर विरोध किया। रामानन्द के शिष्य कबीर, रैदास, धन्ना तथा अन्य संत कवियों ने भक्ति के साथ नये प्रयोग किये और भक्ति को धार्मिक एवं सांस्कृतिक आंदोलन का रुप दिया। इस सम्बन्ध में श्री दामोदरन का कथन है– ″भारत में धर्म पर आस्था सदा सामाजिक प्रगति के प्रतिकुल नहीं रही। वास्तव में इसने प्रायः ही उत्पीड़न शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध का रुप धारण किया। भारत में कितने ही सामाजिक एवं राजनीतिक संघर्ष धार्मिक सुधारों के आवरण में लड़े गए। हमारे इतिहास के कितने ही मोड़ों पर जनता ने धार्मिक शिक्षाओं के प्रति आध्यात्मिक दृष्किोण ने विलक्षण सृजनात्मक शक्ति को जन्म दिया, ऐसी शक्ति को जन्म दिया जो अभूतपूर्व सामाजिक परिवर्तन लाने में सहायक हुए।″[4]

इस प्रकार भक्ति आंदोलन धार्मिक सांस्कृतिक आंदोलन के रुप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। लेकिन यहाँ भारत की तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं अर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालना अत्यंत आवश्यक है। भारतीय इतिहास में मध्यकाल (पूर्व मध्यकाल– भक्तिकाल) का समय

Correspondence
पल्लवी रिनाहिते
शोध छात्रा, हिन्दी विभाग
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय
बिलासपुर, छत्तीसगढ़

1350–1700 तक निर्धारित किया गया है। ईसा की 15 वीं शती तक भारत की केन्द्रीय सत्ता पर तुर्कों एवं अफगानों का अधिकार हो चुका था, वे अपने साथ इस देश में एक नवीन एवं बलिष्ठ संस्कृति लेकर आये थे। तमाम राजनैतिक चुनौतियों के साथ–साथ भारतीय समाज अनेक जातियों एवं सम्प्रदायों में बटा हुआ था उसमें अनेक विसंगतियां पैदा हो गयी। परिणाम स्वरुप उसमें परिमार्जन की प्रक्रिया स्वतः ही प्रारम्भ हो गयी। परिमार्जन की प्रक्रियाओं एवं मध्यकालीन भक्तिधारा के उदय को लेकर विभिन्न विद्वानों ने अलग–अलग मत दिए हैं।

जार्ज ग्रियर्सन, ताराचन्द, आबिद हुसैन, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि ने भक्ति आन्दोलनों के उदय की व्याख्या भिन्न–भिन्न रुप में की। जार्ज ग्रियर्सन के लिए वह ईसाई प्रभाव है तो ताराचन्द के लिए अरबी प्रभाव, आबिद हुसैन की मान्यता से मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क का परिणाम, आचार्य शुक्ल के लिए इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया और वहीं हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए भारतीय परम्परा का स्वतः स्फूर्त विकास।

भक्ति आंदोलन को ईसाई प्रभाव की देन या मुस्लिम संस्कृति से संपर्क का परिणाम वाली धारणाएं अब बहुत विचारणीय नहीं रह गयी हैं। जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार ईसा की पहली, दूसरी शताब्दी में दक्षिण भारत के मद्रास क्षेत्र में ईसाई पादरियों के आगमन से करुणा का संदेश मिला उससे भक्ति आंदोलन का अचानक उद्‌भव हुआ। दूसरी ओर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अनेक साक्ष्यों के आधार पर यह दिखाया है कि करुणा का तत्व ईसाई पादरियों के आगमन के बहुत पहले ही बौद्ध धर्म से ही विद्यमान था अतः उसे ईसाई प्रभाव कहना पूर्वाग्रह से ग्रसित है।

भक्ति आन्दोलन के उदय के कारकों के सम्बन्ध में सर्वाधिक विवाद आचार्य शुक्ल एवं द्विवेदी जी की मान्यताओं को लेकर है। आचार्य शुक्ल मुस्लिम आक्रान्ताओं से हिन्दुओं के पराभव और उससे उत्पन्न सांस्कृतिक संकट को भक्तिकाल का प्रमुख कारक मानते हैं। उनके अनुसार– ”अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।”[5]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल जी की यह मान्यता स्वीकार नहीं की। उन्होंने इसे भारतीय परम्परा का स्वतः स्फूर्त विकास बताते हुए कहा– ”मैं इस्लाम के महत्व को नहीं भूल रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।”[6] आगे किसी भ्रम की गुंजाइश न छोड़ते हुए उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि ”इन सबका यह अर्थ नहीं है कि मुसलमानी धर्म का कोई प्रभाव साहित्य पर नहीं पड़ा। .... किन्तु यह प्रभाव, प्रभाव के रुप में स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रिया के रुप में नहीं।”[7] इस सम्बन्ध में उनका यह कथन भी उल्लेखनीय है– ”यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मंदिर तोड़ रहे थे तो उस समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागत प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और उत्तर में प्रकट होना था, पर वह प्रकट हुई दक्षिण में।”[8]

इस प्रकार भक्ति के उदय को द्विवेदी जी ने किसी प्रकार की प्रतिक्रिया न मानकर भारतीय चिन्तन एवं भारतीय धर्म चेतना की स्वाभाविक परिणति के रुप में देखा इसे उन्होंने लोक की ओर झुकने का परिणाम माना।

'दूसरी परम्परा की खोज' में 'नामवर सिंह जी' ने स्पष्ट रुप से कहा है कि– ”भारतीय इतिहास में ऐसे समय आते रहे हैं जब आर्य लोग अपनी आत्मसात करने की प्रवृत्ति को खो देते रहे हैं और परिणाम यह होता था कि ब्राम्हणवादी निरंकुशता पहले से ही आर्थिक दृष्टि से दलित जनता पर निष्ठुरतापूर्वक लाद दी जाती थी। ऐसी परिस्थिति में संकट अनिवार्य था। दलित जन शक्तियाँ रुढ़िवाद के स्तर के वेग से संगठित होने लगती थी और खुले विद्रोह की भूमिका तैयार हो जाती थी। बौद्ध धर्म का प्रारंभिक इतिहास, वस्तुतः ऐसा ही था जिसने ब्राम्हणवादी कर्मकाण्ड के विरोध का रुप धारण कर लिया था।”[9]

भक्ति आन्दोलन भी धार्मिक आवरण में देश की साधारण जनता की व्यथा के रुप में सामने आया। भारतीय मध्यकालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक विसंगतियों को समाप्त करने में संत एवं भक्त कवियों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है जिनमें से हम कुछ संत, भक्त कवियों का उल्लेख करना चाहते हैं – कबीर, सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि।

कबीरदास जी भारतीय मध्यकाल की उपज हैं। कबीर का स्थान न केवल मध्यकालीन भक्त एवं संत कवियों में बल्कि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। कबीर अपने काव्य में सामाजिक विसंगतियों के खिलाफ पुरजोर आवाज उठाते दिखाई पड़ते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार– ”वे साधना के क्षेत्र में योगगुरु थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के सृष्टा संस्कृत के कूपजल से छुड़ाकर उन्होंने भाषा को बहते नीर में सरस्वती को स्नान कराया।”[10]

कबीर की जो चुनौतियाँ एवं संघर्ष है वह सत्य की पुनर्वापसी के लिए है। उनकी समूची, चेतना को हम काव्य चेतना, सामाजिक चेतना या भक्ति भावना कह सकते हैं। चाहे कोई भी संदर्भ या कोई भी नाम दे इन सभी संदर्भों का केन्द्रीय तत्व है– सच की पहचान। यह निर्विवाद रुप से कहा जा सकता है कि उनका सम्पूर्ण काव्य समय की वास्तविकता को पहचानने की कोशिश है।

”साधो देखो जग बौराना।
साँची कहौ तो मान धावै झूँठे जग पतियाना।”[11]

मीरा भक्ति आन्दोलन की अनूठी देन हैं। उनकी कविता नारी मन के घुटन एवं तड़पन का प्रतिनिधित्व करती है। जहाँ एक ओर मनु स्मृति में कहा गया है –

”बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्रहस्य यौवने।
पुत्राणं भर्तति प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतंत्रताम्।।”[12]

अर्थात् स्त्री को बाल्यावस्था में पिता, युवती होने पर हाथ पकड़ने वाले पति एवं पति की मृत्यु के पश्चात पुत्र के अधीन रहना चाहिए। उसे कभी भी स्वतंत्र नहीं रहना चाहिए। ऐसी सामाजिक व्यवस्था जहाँ स्त्री के जीवन की गति पूर्व निर्धारित कर दी गई है। इन परिस्थितियों में मीरा द्वारा कृष्ण का वरण एक क्रांतिकारी निर्णय है। उन्होंने साहस के साथ कहा –

”मैं तो सांवरे के रंग राची
साज सिंगार पद – घुंघरु बांध कर
लोक लाज तज नाची रे।”

सूरदास जी की कविताएं लोकजीवन के अनुभव से सम्पृक्त कविताएँ हैं। इसलिए वह लोक को प्रभावित करने में सक्षम हैं। सूर के काव्य में श्रृंगार एवं वात्सल्य की प्रधानता सहज ही दृष्टव्य होती है। वात्सल्य का प्रश्न अनिवार्य रुप से नारी की अस्मिता के साथ जुड़ा हुआ हैं नारी के सम्बन्ध में वामाचार से जुड़े हुए तांत्रिक एवं सिद्धों के दृष्टिकोण से हम बखूबी परिचित है साथ ही नाथपंथी साधुओं एवं निर्गुण संती की सोच भी हमारे सामने स्पष्ट है। एक के लिए नारी यदि भोग नाना प्रकार की तांत्रिक साधनाओं का माध्यम है तो दूसरे के मुक्ति के मार्ग में बाधक, माया ठगिनी और न जाने क्या–क्या ? ऐसे समय में सूरदास ने बाल कृष्ण के माध्यम से नारी और उसके मातृत्व को सम्मानित किया –

"सिखवत चलत जशोदा मैया
कान्ह चले द्वै–द्वै पग धरती।"

तुलसी मुख्यतः भारतीय ग्राम्य समाज के प्रवक्ता हैं, वे लोकजीवन के अनुभूतियों के गायक हैं उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से मध्यकालीन सामाजिक यथार्थ को सामने लाने का प्रयत्न किया है। तुलसी ने जनता की दरिद्रता पर द्रवित होकर लिखा है –

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका–विहीन लोग सीद्यमान सोच–बस,
कहैं एक एकन सो 'कहां जाई का करी?'।"[13]

भारतीय धर्म साधना का इतिहास काफी पुराना है। जिसमें संत काव्य (संत साहित्य) एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। जिसने मानवीय एवं सामाजिक मूल्यों पर बल दिया, आगे चलकर वे मूल्य भारतीय संस्कृति के आधारभूत बने। इतिहास के जिस मोड़ पर बाह्य आडम्बरों एवं अंधविश्वासों के कारण धर्म की मूल चेतना नष्ट हो रही थी ऐसे समय में इन संत एवं भक्त कवियों ने आपने काव्य के माध्यम से धर्म एवं मनुष्यता दोनों की रक्षा की। उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि मध्यकालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में संत एवं भक्त कवियों की भूमिका अविस्मरणीय है। जिन्होंने अभिशप्त सामाजिक व्यवस्था एवं रुढ़िग्रस्त धर्म के बंधनों को तोड़कर आम जनता की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

संदर्भ सूची

1. शिवकुमार मिश्र, भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, दूसरा संस्करण, 1993, पृष्ठ सं.–13
2. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, तीसरा संस्करण, 2010, पृष्ठ सं. 270
3. वही पृष्ठ सं. – 270
4. शिवकुमार मिश्र, भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, दूसरा संस्करण– 1993, पृष्ठ सं. 13
5. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, संस्करण– नवीनतम्–2011, पृष्ठ सं. 53
6. डॉ. नगेन्द्र, हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स, तीसरा संस्करण–2009, पृष्ठ सं. 31
7. वही पृष्ठ सं. – 31
8. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, संस्करण–1969, पृष्ठ सं. – 55
9. नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज, राजकमल प्रकाशन, संस्करण–2011, पृष्ठ सं. – 93
10. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, संस्करण–1940, पृष्ठ सं. – 98
11. परमानंद श्रीवास्तव, कबीर पुनर्पाठ/पुनर्मूल्यांकन, अभिव्यक्ति प्रकाशन, संस्करण–2001, पृष्ठ सं– 58
12. मनुस्मृति, श्लोक – 151
13. डॉ. नगेन्द्र, हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स, तीसरा संस्करण–2009, पृष्ठ सं. – 89